



JOURNAL OF EMERGING TECHNOLOGIES AND INNOVATIVE RESEARCH (JETIR)

An International Scholarly Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

प्राचीन भारतीय संगीत की धाराएँ

— डॉ० आरती सिसोदिया

असिस्टेन्ट प्रोफेसर

संगीत विभाग

एम०के०पी० (पी०जी०) कॉलेज

देहरादून (उत्तराखण्ड) भारत

सारांश—

संगीत की अविरल धारा इस प्रकृति तथा चराचर जगत में सदियों से प्रवाहित होती चली आ रही है। प्राचीन समय से ही संगीत एवं धर्म का एकीकरण हो जाने से भारतीय संगीत पवित्रतम बन गया तथा सहज संस्कारों से पुष्टि व पल्लवित होकर दो धाराओं में प्रवाहित होने लगा। एक 'मार्गी' धारा जिसके लिए विशिष्ट संस्कार व शिक्षा—दीक्षा की आवश्यकता रही तथा दूसरी 'देशी' धारा जिसका परिपोषण जनरुचि व जनमत रंजन ने किया जो वर्तमान में एक अलग रूप में प्रवाहित होकर मानसमन का सिंचन कर रही छें।

संकेत शब्द— संगीत, साम—गान, मार्ग—संगीत, देशी—संगीत, नाद, स्वर।

संगीत का प्रयोग आरम्भ से ही अध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित रहा है। भारतीय विचाराधारा के अनुसार, संगीत कला आत्म—निमज्जन, मोक्ष—प्राप्ति एवं आत्मोन्नति का साधन है। पद्मपुराण में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं महर्षि नारद से कहते हैं—

'नाहं वसामि वैकुंठे, योगिनां हृदये न च।'

मद्भक्ता यत्र गायत्रं, तत्र तिष्ठानि नारद ॥

प्राचीन काल में 'ऋग्वेद' की ऋचाओं का गान देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था, जिसको 'साम—गायन' की संज्ञा प्राप्त थी। इसी 'साम—गान' से संगीत परम्परा मानी जाती है। इसी के साथ ही साथ लौकिक संगीत भी विद्यमान था, जिसका उददेश्य जनमत रंजन था। अतः प्राचीन समय से ही भारतीय संगीत दो धाराओं में प्रवाहित होता रहा— एक वह जिसका प्रयोग धार्मिक समारोहों पर धार्मिक विधि—विधान के अन्तर्गत किया जा रहा है और दूसरा वह जिसका प्रयोग लौकिक समारोहों पर किया जाता रहा है। प्रथम धारा 'मार्ग—संगीत कहलायी जाती थी तथा दूसरी धारा 'देशी—संगीत' के नाम से प्रचलित हुयी।

प्रथम में शास्त्र के अनुगमन के द्वारा कला की परिष्कृतता तथा अभिजातता पर ध्यान दिया जाता है, दूसरे में लोकरूचि नियमक तत्व होता है तथा शास्त्र—पक्ष गौण होता है। प्रथम के लिए विशिष्ट संस्कार एवं शिक्षा—दीक्षा की आवश्यकता होती है, दूसरे सम्पर्क तथा सहज संस्कारों से प्रसूत होकर सर्वजनबोध्य होती है।

संगीत के ग्रन्थों में संगीत के इन दोनों प्रकारों के स्वरूप का उल्लेख मिलता है। मतंग मुनि ने 'बृहददेशी' में संगीत के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे दो मार्गो— निबद्ध तथा अनिबद्ध का उल्लेख किया है। उन्होंने लोक—संगीत को 'अनिबद्ध गान' तथा शास्त्रीय संगीत को 'निबद्ध गान' की संज्ञा प्रदान की है।

विशुद्ध शास्त्रीय नियमों में बैंधे होने के कारण मार्ग—संगीत का विकास एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रहा परन्तु लोकरूचि के अनुकूल प्रचलित होने से देशी—संगीत का क्षेत्र अधिक विस्तृत रहा।

मार्ग—संगीत की परिभाषा संगीत—रत्नाकर में इस प्रकार दी है—

यो मार्गिते विरिजन्यायैः प्रयुक्तो भरतादिभिः ।

देवस्य पुरतः शम्भोनियताभ्युदप्रदः ॥

अर्थात् जिसको ब्रह्मा इत्यादि ने दूँड निकाला, जिसका भरत इत्यादि ने भगवान शिव के सम्मुख प्रयोग किया, जो निश्चित अभ्युदय अथवा मुक्ति का देने वाला है, वह 'मार्ग—संगीत' है। 2 पवर्ती—काल में इसी मार्ग—संगीत का दूसरा नाम 'गान्धर्व' तथा संगीत जाता के लिए 'गान्धर्व तत्त्वज्ञ' शब्द भी प्राप्त होता है।

भारतीय संगीत की आरम्भिक अवस्था में 'साम—संगीत', 'मार्ग—संगीत' था, जो अत्यन्त पवित्र, व्यवस्थित, नियमबद्ध और अपरिवर्तनीय था तथा इसका रूप सस्वर पाठ था। 'साम' शब्द की व्युपत्ति सा + अमः = साम से हुई है, जिसमें 'सा' का अर्थ है 'ऋचा' और 'अमः' का अर्थ है 'आलाप' इस प्रकार 'साम' का अर्थ आलाप से युक्त ऋचाओं का गान हुआ।

जैमिनीय सूत्र के अनुसार— 'गीतिषु सामाञ्च्या' अर्थात् जो मन्त्र गाये जाते हैं वही 'साम' कहलाते हैं। ऋग्वेद के छन्दमय मन्त्रों का ही गायन साम गान कहलाया। ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वरावलियों में निबद्ध होने पर 'स्तोत्र' कहलाई तथा इन ऋचाओं में कुछ वर्ण, पद और वाक्यांश जोड़े गये, ये 'स्तोभ' के रूप में प्रचलित हुए।

छंदोबद्ध ऋचाओं को गाने वाले 'छंदोग' कहलाते थे तथा उत्कृष्ट साम—गायकों को 'उद्गाता' कहा जाता था। साम—ऋचा गायन करने के लिए यज्ञ में तीन ऋत्यिज रहते थे, मुख्य गायन 'उद्गाता' करता था तथा प्रस्तोता, 'प्रतिहर्ता' संज्ञक दो ऋत्यिज 'हो' इस प्रकार का षड्ज स्वर देकर मुख्य गायक को तानपूरे के समान स्वराधार देते हुए संगति करते थे।

सामगान के पाँच भेद होते थे— 'हुंकार' अथवा 'हिंकार' में साम गायक 'हुं' का स्वर में उच्चारण करते थे जिस प्रकार वर्तमान में गायक 'आ' का उच्चारण करते हुए स्वर लेता है। गीत अथवा मन्त्र के प्रथम भाग को 'प्रस्ताव' तथा मुख्य भाग को 'उद्गीथ' कहते थे। उद्गीथ के अन्तिम पद से प्रतिहर्ता गान को पकड़कर 'प्रतिहार' भाग तक पहुँचता था तथा 'निधन' गीत का अन्तिम भाग होना था जिसको प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता तीनों एक साथ गाते थे।

इस संगीत का स्वरूप पवित्रम था। यह आत्म—विनोद और सामान्यजनों के मनोरंजन के लिए नहीं था, अपेक्षु यज्ञों में ईश्वर—आराधना के लिए महान ऋषियों द्वारा इसका प्रयोग होता था।

वैदिक यज्ञ, अनुष्ठानों एवं विभिन्न संस्कारों में 'साम—गान' का विशेष महत्व था। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में साम गान को उत्कृष्ट बताते हुए कहा गया है— 'अयज्ञोवा एषः। योऽसामा' (2/5/8) अर्थात् जिस यज्ञ में सामगान न हो वह यज्ञ ही नहीं है। इस प्रकार इस काल में देवताओं को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन संगीतमयी स्तुति एवं आराधना को विशेष महत्व दिया गया।

वैदिक काल में छन्दमय श्लोकों का आवश्यकता और समयानुसार गायन किया जाता था। 'आर्चिक पद्धति' में समस्त गायन एक ही स्वर पर आधारित होता था। इसका मुख्य उपयोग निजी प्रार्थना व श्लोकों को याद करते समय किया जाता था। 'गाथिक पद्धति' में दो स्वरों का प्रयोग होता था। इसमें मूल स्वर से एक स्वर ऊपर का और एक नीचे का सम्मिलित किया जाता था। इस प्रकार साम गायन के तीन स्वरों उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित का प्रयोग होता था। आगे चलकर इन्हीं तीन स्वरों द्वारा एक-एक करके स्वरों की स्थापना होती चली गयी-

उदात्ते निषाद गान्धारानुदात्तजृष्टभैवतौ ।

स्वरित प्रभवाद्येते षड्जमध्यमपेचमः ॥१२॥

(नारदीय शिक्षा, प्रथमः प्रपाठः, अष्टमीकण्डका पृ०-४६)

वैदिक काल में ही साम—गान सात स्वरों में होने लगा। इन स्वरों को कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र व अतिस्वार्या कहा गया। लौकिक स्वरों का विकास भी वैदिक युग में हुआ, जिसका सप्त प्रमाण पाणिणीयशिक्षा में मिलता है। नारदीय शिक्षा में वैदिक कालीन स्वरमण्डल की व्याख्या मिलती है, जो कि सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना व उनन्चास तानों का सामूहिक रूप था। महाकाव्य काल तक साम—गान का प्रयोग आर्यों के दैनन्दित जीवन का अग बन गया था। यज्ञ आदि कार्यों के अतिरिक्त जन्म तथा मृत्यु जैसे लौकिक प्रसंगों पर भी साम—गान किया जाता था।

भारतीय संगीत की दूसरी धारा— 'देशी—संगीत' था, जो मनुष्यों की अभिरुचि के अनुसार प्राचीन काल से आज तक चला आ रहा है। इसका मूल आधार 'मार्ग—संगीत' ही है,

मार्ग—संगीत की तुलना यदि गंगा नदी के धीर, गम्भीर एवं प्रशान्त प्रवाह से की जाये, तो देशी—संगीत की तुलना पहाड़ी प्रदेशों में उन्मुक्त रूप से बहते हुए और कलकल करते हुए छोटे—छोटे झरनों से की जा सकती है। ३

'देशी—संगीत' के विषय में संगीत रत्नाकर में कहा है— "देशे देशे जनानां यदृच्छा हृदयरञ्जकम् ।" (स०५०प्र०अ० श्लोक-२३) अर्थात् जो विभिन्न प्रदेशों में जनरुचि के अनुसार दिल को अच्छा लगने वाला है, वह 'देशी—संगीत' है। इसी प्रकार 'संगीत दर्पण' में कहा है—

तत्तदेशस्था रीत्या यत्स्याल्लोकानुरञ्जनम् ।

देशे देशे तु संगीत तददेशीत्यमिदीयते ॥१-५॥

अर्थात् विभिन्न देशों की रीति से जो गाया जाता हो और लोगों का मनोरंजन करता हो वह देशी—संगीत है। ४

यह मनुष्य द्वारा निर्मित था, जिसमें नियमों की शिथिलता थी और लोकरुचि के अनुकूल होने से इसमें परिवर्तन की गुंजाइश रहती थी। उस समय साम जैसे वैदिक संगीत के अतिरिक्त गाथा, नराशंसी, रैमी आदि लौकिक संगीत का भी प्रचार था। ये उस समय के लोक—गीत थे जिनमें लोक जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जाती थी तथा इसके अतिरिक्त राजस्तुति भी गायी जाती थी। धार्मिक अवसरों पर भी इनका आयोजन होता था। वैदिक यज्ञों में भी कुछ विशेष अवसरों पर यजमान तथा अन्य लोगों के मनोरंजन के लिए संगीत के आयोजन किये जाते थे। ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों में ऐसे विशेष यादिक अवसरों पर किये जाने वाले गीतों का उल्लेख मिलता है। ५

सन्दर्भ ग्रन्थ—

1. डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे— "भारतीय संगीत का इतिहास" (वि०प्र०, पृ०-६)
2. ठाठ जयदेव सिंह— "भारतीय संगीत का इतिहास" (अ०-८, पृ०-१६६)
3. डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे— "संगीत बोध" (अ०-१, पृ०-३)
4. ठाठ जयदेव सिंह— "भारतीय संगीत का इतिहास" (अ०-८, पृ०-१६६)
5. डॉ० पंकज माला शर्मा — "साम का उद्भव, व्यवहार एवं सिद्धान्त" (अ०-१, पृ०-२०)

